गुरुकुल पत्रिका

श्रावण : २०४० | वर्ष : ३५, अंक : ४
जुलाई : १९८३ | पूर्णांक : ३४६

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य मासिक-पत्रिका

सम्पादक मण्डल

विषय-सूची

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

[गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य मासिक-पत्रिका]

श्रावण २०४०		अङ्क ४
जुलाई १९८३	वर्ष ३५	पूर्णाङ्क ३४६

श्रुति सुधा

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद् वहन्तः सं तदाशत ॥ साम० ८७५ ॥

अन्वयः—ब्रह्मणस्पते ! ते पवित्रं विततम् । प्रभुः गात्राणि विश्वतः पर्येषि । अतप्ततनूः आमः, तत् न अश्नुते । शृतासः इत् वहन्तः तत् समाशत ।

संक्षिप्त अन्वयार्थ :—हे ज्ञान, आनन्द के स्वामी परमेश्वर ! तेरा पवित्र करने वाला स्वरूप फैला हुआ है, उस से प्रभु अर्थात् प्रभावशाली हुआ-हुआ तू हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों में सब प्रकार से अभिव्याप्त हो रहा है। अतप्ततनूः–असंयमी शरीर वाला–अतपस्वी मनुष्य कच्चा है, अतः वह उस पावन प्रभु को नही पा सकता। परिपक्व उपासक ही उस को हृदय में धारण करते हुए उस को सम्यक् रूप से प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ :—([1]ब्रह्मणस्पते ! ते पवित्रं विततम्) हे ज्ञान, अमृत-आनन्द के अधिपति प्यारे प्रभुवर ! तेरा पवित्र करने वाला ज्ञानरूप वा आनन्दरूप उपासक में सर्वत्र फैला रहा है, उस से (प्रभुः गात्राणि विश्वतः पर्येषि) अत्यन्त प्रभावशाली हुआ-हुआ तू उपासक के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को सब

१ "अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्" [जै० ३०१.८.१.१०] तस्य पतिः ब्रह्मणस्पतिः तत्सम्बुद्धौ ब्रह्मणस्पते ।

ओर से अभिव्याप्त कर रहा है। परन्तु (अतप्ततनूः) जो अतप्ततनू है, अर्थात् जिस ने अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के द्वारा अपने शरीर को तपाया नहीं, (आमः) वह कच्चा है, अपरिपक्व है, अत एव वह (तत् न अश्नुते) उस ज्ञानस्वरूप-आनन्दस्वरूप ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता। (१शृतासः इत्) जो 'शृतासः' अर्थात् परिपक्व हैं, जिन्होंने यम-नियम आदि व्रतों के द्वारा अपने आपको परिपक्व बना लिया है, ऐसे तपस्वी संयमी उपासक ही (वहन्तः) उस को अपने भीतर धारण करते हुए (तत् सम् आशत) उस को सम्यक् रूपेण प्राप्त करते हैं।

वेद, ब्रह्माण्ड वा आनन्द के अधिपति प्यारे प्रभु का पवित्र स्वरूप सर्वत्र सदा फैला रहता है, उस अपने पावन स्वरूप के द्वारा वह अत्यन्त प्रभावशाली हुआ-हुआ ही सब साधकों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को आविर्भूत किये रहता है, तभी तो सच्चे-सुच्चे साधक महापुरुषों के अङ्ग-अङ्ग से, रोम-रोम से पवित्रता के प्रवाह प्रवाहित होते रहते हैं। साधक को यह सब सहज ही अनुभव होता रहता है कि यह पवित्रता का प्रवाह उस प्यारे प्रभु की ओर से ही आ रहा है।

जो अतप्ततनुः है—जिसने साधना के द्वारा अपने को साधा नहीं—तपाया नहीं—पकाया नहीं वह कच्चा-अपरिपक्व साधक होने से उस पावन प्रभु को नहीं पा पाता। जो साधना की भट्टी में तप चुका होता है, वह ही वास्तव में उस पावन प्रभु को पाकर उस के आनन्द में सदा विभोर रहता है।

□ □ □

१ शृतासः—"श्रृञ् पाके" शृताः एव शृतासः "आज्जसेरसुक्" इति सूत्रेण 'असुक्' प्रत्ययः स्वार्थे भवति।

स्वार्थ-परार्थ

—प्रो० मनुदेव 'बन्धु'
वेद विभाग, गु०कां० विश्वविद्यालय, हरिद्वार

"Show me the man who would go to heaven alone, and I will show you one who will never be admitted there.

-Felthom

परोपकाराय सतां विभूतयः ।

मुसलमान बेईमान, हिन्दु काफिर, सुनार मां के गहने का भी चोर। नराणां नापितो धूर्तः, स्त्रीषु विश्वासो न कार्यः; इस प्रकार की कहावतों से, मनुष्य मनुष्य के बीच कितना विद्वेष और अविश्वास बढ़ा है, कल्पना करना कठिन है। ठीक इसी प्रकार, मनुष्य जन्म से स्वार्थी प्राणी है, परोपकार मनुष्य का नैसर्गिक (Natural) गुण नहीं है, इस प्रकार की अविचारपूर्ण उक्तियों से भी मानव जाति की कितनी हानि हुई है, कितना भ्रम फैला तथा नैतिक वृत्ति क्षत-विक्षत हुई, कौन बता सकेगा ?

मनुष्य में स्वार्थ नहीं है, यह कोई नहीं कहता। स्वार्थ बलवान् है, परन्तु परार्थ भी उतना ही स्वाभाविक और प्रबल है। बहुत सी परिस्थितियों में वह स्वार्थ को पराजित भी करता है। मां अपने कुटुम्ब के लिए क्या नहीं करती ? रोटी का यदि एक ही टुकड़ा हो तो वह स्वयं भूखी रहकर बच्चे को खिलायेगी। स्वयं गीले बिस्तर पर लेटेगी, बच्चे को सूखे स्थान पर सुलायेगी। मां बच्चे का सम्बन्ध कोई ऐसा लोक विलक्षण या आलोकिक नहीं कि इसका दृष्टान्त अन्यत्र न दिया जा सके। मां और बालक के मध्य ममता का जो प्रेम-सम्बन्ध है, लगभग वैसा ही सम्बन्ध समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच होना चाहिए। समाज के सम्मुख, यह आदर्श प्रस्तुत करना न अयोग्य है, न अव्यवहारिक है।

इस प्रसंग पर महाभारतकार महर्षि व्यास द्वारा लिखी हुई सोने के नेवले" की कथा स्मरण करने योग्य है। एक गरीब ब्राह्मण (पति-पत्नी और दो बालक) के प्रत्येक सदस्य ने अपने हिस्से के सत्तु, भूख से पीड़ित एक अतिथि को खाने के लिये दे दिये। अतिथि का पेट तो भर गया, परन्तु सम्पूर्ण ब्राह्मण परिवार के भूख से प्राण जाते रहे। स्वार्थ त्याग का यह अद्भुत् किस्सा है। महर्षि व्यास ने इस कथा द्वारा मानव स्वभाव की एक सत्यता का ही बखान किया है। कहना होगा परार्थ, मानव-स्वभाव का उतना ही अङ्ग है जितना स्वार्थ।

इतिहास भी तो स्वार्थ त्याग की कथाओं से भरपूर है। भीष्म ने राजगद्दी का परित्याग किया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का प्रण किया। पिता के सुख-सन्तोष के लिये-स्वसुख का यह ऐसा महान् बलिदान है, जिसे स्मरण कर सहृदय की आखें सदा अश्रुपूरित होती रहेगी। धर्म की रक्षा के लिये, गुरु तेग बहादुर ने जो कष्ट सहें, उनकी याद से हर किसी के रोंगटे खड़ हो जाते हैं। सुकरात ने, जेल से भाग चलने की समस्त सुविधा होते हुए भी राज्य के नियमों और विधानों की अवहेलना न हो, इस विचार से शान्त और स्थित रहते हुए विष का प्याला पीना पसन्द किया। कैसा आश्चर्यजनक बलिदान है ? महर्षि दयानन्द ने जहर देने वाले को अपने पास से रुपये दिये और उसे कहीं दूर भाग जाकर सिर छिपाने की सलाह दी। परार्थ कितना जबरदस्त हो सकता है। लैटिमर, गैलिलियो, कोपरनिकस और कितने ही वैज्ञानिक, सच्चाई और सिद्धान्त की खातिर प्राणों तक की आहुति क्या नहीं दे गये ?

"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"

दुर्योधन का उपर्युक्त वचन यदि दुनिया के स्वार्थ की सीमा सूचित करता है, तो अर्जुन की निम्न उक्ति—

"एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥"

स्वार्थ की सीमा पर कुठाराघात क्या नहीं करती ? अर्जुन कौरवों की हत्या कर सकता है, राजगद्दी प्राप्त कर सकता है, परन्तु फिर भी वह स्वयं मृत्यु का स्वागत करने को उद्यत है।

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥"

सम्पूर्ण पुराणों का सार परार्थ है।

"मनुस्य की परार्थ सम्बन्धी प्रवृत्तियां, ऊपरी दृष्टि से ही स्वार्थमुक्त प्रतीत होती है। वस्तुतः जो कुछ परार्थ है, वह स्वार्थ सिद्ध करने का ही एक कुशल साधन होता है।" मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थक अंग्रेज ग्रन्थकार हॉब्स और फ्रेंच लेखक हैल्वेशियस का उपर्युक्त विचार कितना हास्यास्पद है। परार्थ के लिये व्यक्ति ने जब प्राण ही होम दिये, तो सुख भोगेगा कौन ? स्वार्थ सिद्ध हुआ किसका ?

बटलर सदृश विद्वानों ने हाब्स के उपर्युक्त नीति धर्म का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि मनुष्य स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है। स्वार्थ के समान ही उसमें जन्म से ही भूत दया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुण भी कुछ अंश में रहते हैं।

उपयोगितावाद (Utilitiaranism) के समर्थक मिल (Mill) ने अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख (Greatest happiness of the greatest number) के सिद्धान्त की उत्पत्ति के लिये मानव स्वभाव में स्वार्थ के साथ ही सहानुभूति की भावना (The feeling of happiness of mankind) का अस्तित्व स्वीकार किया है। दूसरों के दुःख-सुख के प्रति सहानुभूति अनुभव करने का आन्तरिक गुण होने से मनुष्य अपने मूल स्वार्थी स्वभाव को दबा सकता है और परार्थी बन सकता है। मिल की मान्यता है कि सहानुभूति की भावना का उद्भव यद्यपि स्वार्थ प्रवृत्ति में से हुआ है, परन्तु अब यह स्वार्थ भावना जितनी ही स्वाभाविक (Natural) हो गई है। इस प्रकार मिल ने स्वार्थ और सहानुभूति दोनों को मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियां स्वीकार कर स्वार्थ ओर परार्थ-सुखवाद और परोपकार में मेल बैठाने का प्रयत्न किया है।

उत्क्रान्तिमूलक सुखवाद (Evolutionery Hedonism) के समर्थक हरबर्ट स्पेंसर की मान्यता है कि मनुष्य की नैतिक चेतना में, स्वार्थ की अपेक्षा सहानुभूति को ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

पूर्णतावादी या आत्मकल्याणवादी (Perfectionist) ग्रीन के मतानुसार आत्मा निम्न आत्मा (Lower Self) और उच्च आत्मा (Tigher Self) की बनी है। निम्न आत्मा अर्थात् अशुभ वृत्तियां, विकार वासनायें; तथा सभी स्वार्थ-युक्त और नीची कक्षा की भावनाएं, उच्च आत्मा अर्थात् शुभ वृत्तियां उच्च इच्छाएं, सद्भावनाएं तथा वासनाओं को व्यवस्थित करने वाली बुद्धि-शक्ति। मनुष्य वासनाओं (अशुभ व स्वार्थी इच्छाओं) का गुलाम नहीं है। बुद्धि द्वारा वासनाओं में व्यवस्थितता लाते हुए वह आत्म-कल्याण सिद्ध करने में समर्थ है निम्न श्लोकमें ग्रीन के उपर्युक्त मत का ही प्रतिपादन है—

"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीना: पशुभिस्समानाः॥"

मनुष्य में आहार, निद्रा, भय आदि की इच्छायें व वासनायें पशु सदृश ही है, परन्तु साथ ही उसमें धर्म की विशेषता भी है। बौद्धिक तत्त्व द्वारा, अशुभ वासनाओं को नियन्त्रित और शुभ वासनाओं को विकसित करते हुए, श्रेय (आत्मकल्याण) की ओर बढ़ने का नाम ही धर्म है। जिसमें कर्त्तव्य-भावना व धर्म बुद्धि जागृत ही नहीं हुई, उसे मनुष्य नहीं पशु कहना चाहिये।

शतपथ ब्राह्मण ने कहा है कि "असुर वे हैं जो पक्के स्वार्थी हैं और देव वे हैं जो नितान्त परार्थ सेवी हैं।" मनुष्य स्वार्थ-परार्थ दोनों का सम्मिश्रण है। देवासुर संग्राम उसकी हृदय स्थली में में जारी रहता है। कभी विजय देवों की होती है और कभी असुरों की।

भगवान् कृष्ण ने परार्थवृत्ति (Altruism) को मनुष्य का सहज (Natural) धर्म कहा है—

"सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥" (गीता ३/१०)

यज्ञ धर्म (परार्थवृत्ति) के साथ पूजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने कहा—इस यज्ञ द्वारा तुम खूब फूलो फलो। यह परार्थवृत्ति मनुष्य का उसी प्रकार स्वभावसिद्ध धर्म है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि का। अग्नि में उष्णता न रहे, तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ठीक उसी प्रकार मनुष्य में यदि परार्थवृत्ति न हो, तो उसका मनुष्यत्व ही खतरे में पड़ जाता है। परन्तु फिर भी न जाने उसे कैसी कुशिक्षा मिली है, जीवन कलह (Struggle for existence) का मन्त्र उसके कान में इस जोर से फूंक दिया गया, कि वह यही समझने लगा है कि स्वार्थ ही स्वाभाविक वृत्ति है, परार्थवृत्ति केवल अपवाद रूप है। गीता बल पूर्वक कहती है कि ऐसा बिल्कुल नहीं—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"

सर्व प्राणियों के हृदय में ईश्वर विराजमान हैं। यह ईश्वर कौन ? प्रेम, परोपकार, दया, करुणा, सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणों की पराकाष्ठा का नाम ही तो ईश्वर है। यदि यह सच है तो मानना ही होगा कि परार्थवादी घटित करने वाली भूत दया, प्रेम, करुणा, कृतज्ञता आदि वृत्तियां, मनुष्य के स्वभाव की अंग रूप ही हैं। यह ठीक ही है कि पुरुष में पशुत्व जब तक जोर करता है परन्तु हृदयस्थित देव उसका दमन करने में पर्याप्त समर्थ है। संकल्प के सुदर्शन चक्र से समस्त असुरों का संहार सम्भव है।

निर्भयता, सत्य, अहिंसा, तप, त्याग, दान, दया, क्षमा, अक्रोध, सरलता, कोमलता, समता, निरभिमानता आदि सद्गुण समुदाय को दैव सम्पत्ति या धर्मवृत्ति कहा है। अभिमान, क्रोध, दम्भ, कठोरता और अज्ञान आदि दुर्गुण समुदाय आसुरी सम्पत्ति या अधर्मवृत्ति है। शुभाशुभ वासनायें, धर्मवृत्ति और अधर्म वृत्ति की बीजरूप है। इन वासनाओं के वश न होकर बुद्धि शक्ति की सहायता से उन्हें व्यवस्थित करने से तथा योग्य शिक्षा में उनका विकास करने से धर्मवृत्ति का विकास होता है। यदि सुशिक्षण आदि द्वारा बुद्धि सुसंस्कृत न हो गई हो, प्राधान्य वासनाओं का हो, बुद्धि योग्य दिशा दिखाने की अपेक्षा, वासनाओं की सेवा-सन्तुष्टि का साधन मात्र बन जाय, तो अधर्मवृत्ति का विकास करना मनुष्य के अपने हाथ में है। मनुष्य के कानों में बार-बार यह डालने से कि वह स्वार्थी प्राणी है, लाभ क्या है ? आवश्यकता तो वस्तुतः उसकी बुद्धि को सुशिक्षण तथा सत्संगति द्वारा सुसंस्कृत करने की है।

"मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।"

वस्तुतः असत् से सत् की ओर, अधर्म से धर्म की ओर उत्तरोत्तर उन्नति करने के लिये जो सचेष्ट है, वह दैवी प्रकृति का पुरुष है। यही क्यों, सत्पुरुषों की श्रद्धा है कि कोई मनुष्य राजस तथा तामस भावों में कितना ही डूबा क्यों न हो, उसमें विशेष सुयोग होने पर, सत्वगुण को उदय होने की शक्यता रहती है। क्योंकि बीजरूप से सत्वगुण उसके अन्तर में निहित है—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ (गीता १४/१०)

सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण विभिन्न अंशों में प्रत्येक मनुष्य निहित हैं। ऐसा नहीं कि किसी मनुष्य में कोई एक गुण सर्वथा हो ही नहीं। तीनों गुणों में जिस गुण की प्रधानता रहती हो, उसी के अनुसार मनुष्य की प्रकृति को सात्विक राजस या तामस कहा जाता है। सात्विक प्रकृति में, रजोगुण और तमोगुण, राजस प्रकृति में तमोगुण और सतोगुण, तामस प्रकृति में सतोगुण और रजोगुण अप्रधान या दबी अवस्था में रहते ही हैं।

सतोगुण ज्ञान (जागृति, प्रकाश, आरोग्य) का प्रतिनिधि है, रजोगुण कर्म (प्रवृत्ति, लोभ, अशान्ति) का, तथा तमोगुण मोह (प्रमाद) सुस्ती, अज्ञान का यदि यह सच है, तो मानना होगा कि मनुष्य प्रकृति में, जिस हद तक स्वार्थ नैसर्गिक है, उसी हद तक परार्थ भी। इसीलिये कहा है—

"अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाग्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥" (गीता ९.३०)

मनुष्य कितना ही दुराचारी क्यों न हो, यदि वह अन्यत्र निष्ठा से ईश्वर की भक्ति करने लगे, तो सदाचारी बन सकता है। संकल्प शुभ हो जाय तो व्यक्ति के साधु या महात्मा बनने में देर नहीं लगती। कहना यह है कि गीता की हर दृष्टि में हर कोई व्यक्ति धर्मात्मा या अधर्मात्मा हो सकता है। गीता का तत्व चिन्तन, इस प्रकार नैतिक वृत्ति को अत्यधिक प्रोत्साहित व प्रफुल्लित करता है।

इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी जी की विचारसारणी अतिशय प्रेरणादायक है—

"भले ही मनुष्य अपूर्ण हो, परन्तु पूर्णता का सतत प्रयत्न करना उसके स्वभाव में है।"

"पृथ्वी और स्वर्ग, (स्वार्थ और परार्थ) सब हमारे भीतर ही है। अपने भीतर की पृथ्वी को हम जानते हैं, पर अपने भीतर के स्वर्ग से हम अपरिचित है।"

"अगर यह मान लिया जाता है कि कुछ लोगों के लिए प्रेम धर्म (परार्थ) का पालन सम्भव है, तो यह मानना धृष्टता है कि और सब लोगों के लिये इसका पालन करना सम्भव नही है।"

"मेरा यह विश्वास अवश्य है कि प्रत्येक मनुष्य के लिये ईश्वर के बराबर ही पूर्ण हो जाना सम्भव है। हमें सबके लिये पूर्णता की आकांक्षा रखना जरूरी है।"

जीवन कला के सच्चे अभ्यासी का संगीत कितनी सुनहली आशा जगाता है ?

'मनुष्य स्वार्थ का पुतला है' यह सर्वथा असत्य है। भर्तृहरि के शब्दों में सत्पुरुषों का तो कहना ही क्या, साधारण मनुष्यों में भी स्वार्थ-परार्थ का यथायोग्य मेल है—

"एके सत्पुरुषाः परार्थ घटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये ।
तेऽमी मानव राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

संसार में चार प्रकार के मनुष्य हैं—

(i) सत्पुरुष—अपना स्वार्थ छोड़कर जो दूसरों का हित करते है, ये सत्पुरुष है।

(ii) समान्यजन—स्वार्थ को खतरे में डाले बिना जो यथाशक्ति परोपकार करते रहते हैं, वे सामान्य लोग कहाते हैं।

(iii) मनुष्य राक्षस— अपने स्वार्थ के लिये जो दूसरों का हित कुचलते है, वे नीच मनुष्य मनुष्याकृति राक्षस हैं।

(iv) अधम पशु—जो बिना कारण ही दूसरों को नुकसान पहुँचाते हैं, वे अधम पशु हैं।

इस प्रकार भर्तृहरि, 'मनुष्य केवल स्वार्थी प्राणी है, इस सिद्धान्त के लिये विरोधी है। सामान्य मनुष्य स्वार्थ का अनुसरण करता है, परन्तु परार्थ की भी चेष्टा करता ही है। जिनकी दृष्टि केवल स्वार्थ पर ही हैं—अपने लाभ के लिये जो परहित को कुचलते हैं, वे तो मानव की भूमि से अभी नीचे ही स्थित हैं। मनुष्य तो वही है जिसमें स्वार्थ और परार्थ दोनों का उचित मेल है।

भर्तृहरि के शब्दों में सन्तों के जीवन में परार्थ की प्रभुता रहती है—

"पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति, चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति, सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥"

सन्तों की स्तुति कालिदास के शब्दों में—

"स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ।"

साधु पुरुष स्वार्थ की अपेक्षा परहित को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। और भी—

"आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ।"

विपत्ति-पीड़ितों के दुःख निवारण करके, साधु पुरुष अपनी सम्पत्ति सफल समझते हैं। महाराज दुष्यन्त के चरित्र की स्तुति में कालिदास ने लिखा है—

"स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः, प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपः तीव्रमुष्णं, शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥"

जैसे पेड़ स्वयं पीड़ा उठाकर दूसरों की पीड़ा शमन करते हैं, वैसे ही श्रेष्ठपुरुष स्वयं कष्ट सहकर दूसरों के कष्ट दुर करते हैं। भलाई करना सज्जनों का स्वभाव है।

सन्त अपनी जीवन पद्धति द्वारा यही दिखाते हैं कि नरदेह पाकर मनुष्य कितना ऊंचा उठ सकता है। वह न क्षुद्र है, न स्वार्थ का कीड़ा। बुद्धि और हृदय की अपार शक्ति से वह परिपूर्ण है। यदि वह कल्पना के पंख तोड़ न डाले और अपनी भावनाओं को सिकोड़ न ले, तो वह नर से नारायण बन सकता है। फिर भी जो अपने को धरती पर रेंगते रहने वाला बदकिस्मत जीव माने हुए हैं, जो हिम्मत हारे हुए हैं, ऊंचे उड़कर सूर्य तक पहुँचने की जिसमें उमंग नहीं, वह तो स्वयं अपना शत्रु ही है—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।" (गीता ६/५)



स्वाध्यायन्मा प्रमदः–

–डॉ० सत्यव्रत राजेश
वेद विभाग, गु० का० वि० वि०, हरिद्वार

श्रावणी का पर्व, अन्तर में ज्ञान की ज्योति जगमगाने का सन्देशवाहक, स्वाध्याय का सूचक वेद ने कहा था "श्रुति से संगत हो, उससे विपरीत मत चलो, श्रुति में, प्रभु की पावन वाणी वेद में, क्या लिखा है, इसे नहीं जानेंगे तो तदनुसार चलेंगे कैसे ? इसके लिये स्वाध्याय करना होगा, तभी तो तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदाध्ययन के पश्चात् स्नातक बनने पर आचार्य अपने अन्तेवासी को उपदेश देता है कि "स्वाध्याय से प्रमाद न करना"

शतपथ ब्राह्मण के ११वें काण्ड के पञ्चम अध्याय के षष्ठ सप्तम ब्राह्मण में स्वाध्याय की बड़ी महिमा गाई गई है आज हम भी उसी के पथ पर चल कर स्वाध्याय के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करेंगे।

इस विषय में प्रथम प्रश्न यह होगा कि स्वाध्याय क्या है ? द्वितीय, इसके साधन क्या हैं ? और तृतीय इसका फल या लाभ क्या है ? तो देखिये ध्यानपूर्वक शतपथ का उत्तर वह कहता है– स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः—स्वाध्याय एक महायज्ञ है जिसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, साधनों का उल्लेख करते हुए वह कहता है–तस्य वा एतस्य ब्रह्म यज्ञस्य वागेव जुहू–उस इस ब्रह्मयज्ञ की वाणी ही जुहू है, मन उपमृत् है चक्षु ध्रुवा, मेधा तथा अवमृथ स्नान है, स्वर्गलोक इसका अन्त है, इस पृथिवी को चाहे कितना ही धन से भरकर इस लोक के जीते, उतने से तिगुना या इससे भी अधिक अक्षय लोग को वह विद्वान् प्राप्त होता है जो स्वाध्याय करता है, इसलिये स्वाध्याय अवश्य करे।3

ऋग्वेद की ऋचाओं का अध्येता मानो दूध की आहुतियों से देवों को तृप्त करता है, यजुर्वेद का अध्ययन करने वाला आज्याहुतियों से देवों को तृप्त करता है, सामवेदाध्यायी सोमाहुतियों से देवों को तृप्त करता है और अथर्ववेद का स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति देवों को अन्य चिकने पदार्थों से तृप्त करता है, इसके बदले में वह देवों से योगक्षेक, प्राण, वीर्य, सब प्रकार की आत्म शक्ति एवं समस्त पुण्यों को प्राप्त करता है, उसके चहुँ ओर घृत तथा मधु की धाराएं बहती हैं तथा अन्न से पितरों (माता पिता आदि) की तृप्ति होती है ?

---

१ सश्रुतेन गमेमहि नाश्रुतेन विराधिषि ॥ अथर्व १.१ ॥

२ स्वाध्यान्मा प्रमदः ॥ तै० उ०, शिक्षावल्ली, अनुवाक ११.१। ३ ११.५.६.३ ॥

स्वाध्याय की अनिवार्यता का वर्णन करते हुए शतपथ ब्राह्मण कहता है कि "यदि किसी कारण से व्यक्ति स्वाध्याय न कर सके तो केवल एक देवपद (वेदवाक्य) को तो अवश्य ही पढ़ लेंवे।

स्वाध्याय के नामों का उल्लेख करते हुए शतपथ ब्राह्मण कहता है। 2

१—प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवत :—वेद का अध्ययन और अन्यों को वेद का पढ़ाना तथा सुनाना मानव के लिये बहुत प्रिय तथा तृप्तिकर होता है,

२—युक्तमना भवति—उसका मन एकाग्र तथा सत्कर्म की ओर लग जाता है,

३—अपराधीन—वह जीवन में परतन्त्र न रहकर स्वाधीन रहता है।

४—अहः अर्थान् साधयति—प्रतिदिन धन कमाता तथा प्रयोजन मानव देह धारण करने के लक्ष्य को सिद्ध करता हैं।

५—सुखं स्वपिति—शारीरिक आरोग्यता, मानसिक तथा बुद्धि विकास एवं आत्मिक शान्ति प्राप्त होने के कारण सुख की नींद सोता है।

६—परमचिकित्सक आत्मनो भवति—आत्मा का परम चिकित्सक होता है, पाप ताप से आत्मा की रक्षा करके उसे सुखी एवं नीरोग-निष्पाप बना लेता है।

७—इन्द्रिय संयमः च—स्वाध्यायशील का इन्द्रियों पर वशीकार होता है।

८—एकारमता च—सुख दुःख में एकरस रहता है।

९—प्रज्ञावृद्धि—बुद्धि तथा ज्ञान बढते हैं।

१०—यशः—चारों दिशाओं में उसकी कीर्ति बढ़ती है।

११—लोकपंक्ति—लोगों में सम्मान होता है और उसके लोग उन्नति करते है।

१२—प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मण अभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशोलोक पंक्ति—बढ़ी हुई प्रज्ञा ब्राह्मण को चार धर्मों को प्राप्त कराती हैं, वे है—ब्रह्मकुल की नीति, अनुकूल आचरण, यश तथा स्वजन वृद्धि।

---

१ वही ११.५.६.४.७ ॥

२ स चेदपि प्रबलमिवन शक्नुयादप्येकं देवपदमधीयीत ॥ शत० ११.५.६.९ ॥

३ शत० ११.५.७.१ ॥

१३—लोकः पच्चमानः चतुर्भिधर्मैः ब्राह्मणं भुनक्ति, अर्चया च दानेन च अज्येयतया च अवध्यतया च—
पक्का श्रद्धालु होकर जन समुदाय ब्राह्मण को चार धर्मों से भोगयुक्त बनता है, वे हैं-अर्चना = सत्कार, दान, न सताना और न मारना।

"द्युलोक तथा पृथिवी के बीच जितने भ्रम हैं स्वाध्याय उनकी पराकाष्ठा है, जो ऐसा जानता हुआ स्वाध्याय करता है (वही स्वाध्याय करने में सफल हो सकता है) अतः स्वाध्याय करना चाहिये।

वेद के जिस-जिस भाग का यह स्वाध्याय करता है उस-उस के यज्ञ का इसे फल मिलता है यह जानकर स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये, यदि कोई व्यक्ति तेल लगाकर मालिश करके, अलंकृत होकर, कोमल शय्या पर लेटकर भी वेद का स्वाध्याय करता है तो वह न स्वाग्र तक तप करता है, इस रहस्य को जानता हुआ व्यक्ति स्वाध्याय करे।

ऋचाएं मधु है, साम घृत है तथा यजु अमृत है, जो प्रतिदिन ऋग्वेद का स्वाध्याय करने वाला देवों को अमृत से तृप्त करता है और सामवेद का स्वाध्याय करने वाला देवों को घृत से तृप्त करता है वे तृप्त हुए देव स्वाध्याय करने वाले को समस्त भोगों से तृप्त करते हैं।[1]

जल चलते हैं, आदित्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं, यदि एक ब्राह्मण किसी दिन स्वाध्याय न करे तो वह दिन ऐसा है जैसे उस दिन ये चलने वाले अचल हो जाएं इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये, व्रत को जारी रखने के लिये एक ऋचा, एक यजु एक साम या एक गाथा (अथर्ववेद का मन्त्र) या एक कुम्ब्या (ब्राह्मणवाक्य) ही पढ़ लेना चाहिये।[2]

इस प्रकार बिना किसी विशेष व्याख्या के हमने शतपथ में वर्णित स्वाध्याय के महत्त्व को उद्धत किया है, कभी समय मिला तो इस विषय पर लिखेंगे, इतना और निवेदन करना भी आवश्यक है कि स्वाध्याय का अर्थ जहां वेदाध्ययन है जैसा कि इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही है, वहां स्वाध्याय का अन्य अर्थ 'स्वस्य आत्मनोऽध्ययनम्' तथा 'स्वस्य निजधनस्य अध्ययनम्' अर्थात् आत्म चिन्तन तथा धनार्जन के तौर तरीकों का भी मनन चिन्तन करते रहना चाहिये, मैं आत्मोन्नति के मार्ग पर चल रहा हूँ या आत्मपतन के मार्ग पर चल रहा हूँ, यह भी दैनिक चिन्तन का विषय है, साथ

---

१ शत० ११.५.७.५.८।

२ ११.५.७.६.१० ॥

ही धनार्जन के भ्रष्ट तरीके भी मानव के आत्मपतन में सहायक बनते हैं अतः उनका भी चिन्तन आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाध्याय का मुख्य प्रयोजन आत्मोत्थान है, प्रत्येक आत्मोन्नति के अभिलाषी को स्वाध्याय करना चाहिये, जैसे सूर्य यदि छिपकर पुनः न निकले तो सर्वत्र अन्धकार का साम्राज्य हो जाता है ठीक इसी प्रकार यदि व्यक्ति स्वाध्याय नहीं करता तो आत्मा में अज्ञान का अन्धकार वास करने लगता है तथा जैसे सूर्य निकलने पर समस्त अन्धकार विनष्ट हो जाता है इसी प्रकार स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति का आत्मा प्रकाशित होकर ज्ञान एवं निःसंशय के आलोक से परिपूर्ण हो जाता है, अतः श्रावणी का पावन पर्व हमें स्वाध्याय की स्मृति दिलाने आया है। हम इसका सन्देश सुनें और प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय, आत्मचिन्तन एवं धनार्जन के स्रोतों पर दृष्टि डालते रहें जिससे हम सदैव आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होते रहें।



ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता

–डा० रामेश्वर दयाल गुप्त

१–०१ ज्ञान के स्रोत

संसार में परीक्षण जन्य ज्ञान बढ़ता रहता है तथा एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को जन्म देता है। ज्ञान के विकास का स्रोत क्या है ?

(१) ज्ञान का विकास स्वाभाविक नहीं हो सकता, अन्यथा हब्शी तथा आदिवासियों के ज्ञान का वही स्तर होना चाहिए, प्रकृति का साहचर्य तो उन्हें भी प्राप्त था। फिर प्रकृति में तो हिंसक भोगी और नरभक्षी प्रवृत्तियां तक भी हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। केकड़े की मां इसलिए गर्भ धारण करती है कि उसके बच्चा हो और वह मां को ही खा जावे। प्रकृति न चरित्र में निखार लाती है न समाजिकता में। उसका सिद्धान्त ही है जिसकी लाठी उसकी भैंस।

मनुष्य का स्वभाविक ज्ञान पशुओं से कम है। गाय-बैल आदि पशुओं के बच्चे स्वभावतः तैरना जानते हैं, परन्तु मनुष्य सीखे बिना नहीं तैर सकता। मनुष्यों को पशुओं से जो विशेषता प्राप्त है उसका कारण यह है कि वह नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने और प्राप्त करके उसकी वृद्धि करने की योग्यता रखता है। यही नैमित्तक ज्ञान, मनुष्यत्व की भित्ति ऊंची किया करता है। इसी योग्यता का लगभग अभाव, पशुओं को ऊंचा होने से रोक दिया करता है। स्वाभाविक ज्ञान जन्म–सिद्ध होता है – परन्तु नैमित्तिक ज्ञान अन्यों से प्राप्त किया जाता है। इस अन्त में वह माता-पिता और अध्यापक वर्ग से प्राप्त किया जाता है। परन्तु जगत् के आरम्भ में जिसे दुनियाँ की पहली नसल कहा जाता है, अमैथुनी सृष्टि होने के कारण, उसे कोई शिक्षा देकर नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त कराने वाला नहीं था। इस सम्बन्ध में अमैथुनी सृष्टि का समझ लेना कदाचित् उपयोगी होगा।

अमैथुनिक सृष्टि का क्रम

भूतों की उत्पत्ति के बाद, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य (वीर्य से ताप्पर्य-रज और वीर्य दोनों से है) और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होता है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः। अद्भ्यःपृथ्वी पृथिव्याः औषधी औषधयः औषधिभ्योऽन्नमन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली प्रथम अनुवाक।

जब अमैथुनी सृष्टि होने के कारण, ज्ञान देने वाले माता-पिता आदि नहीं होते तो उस समय वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हुआ? इस प्रश्न का उत्तर न मिलने के कारण ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति (इलहाम) की कल्पना की जाती है। फिर क्या ज्ञान इन्द्रियों से आता है? वे तो जड़ हैं। उनके साथ बुद्धि, मन और आत्मा का साक्षात्कार जब तक नहीं होता उनके संकेत स्पष्ट ही नहीं होते। तो फिर ज्ञान का स्रोत आत्मा है? आत्म तो अल्पज्ञ है उलटा सोचने व करने को भी स्वतन्त्र है। बहुत कुछ ज्ञान जो आत्मा में से उद्वेलित होकर टपक कर आता प्रतीत होता है, वह तो उस पर जन्म जन्मान्तर के संस्कार तथा अर्जित ज्ञान है। प्रश्न होता है कि सृष्टारम्भ में जब स्लेट बिलकुल साफ थी, ज्ञान कहां से आया। सृष्टि बनते ही नियम शास्त्र एवं विज्ञान की जानकारी आवश्यक थी कि कहीं आत्मा अंजीर के फल न खाने लग जावे। सृष्टि-क्रम के विरुद्ध काम न करने लग जावे। परमात्मा तो दयालु और पतितोद्धारक है। (२) ज्ञान के बारे में विकासवाद की मान्यता भी समीचीन नहीं है।

डा० डार्विन ने शिक्षा दी कि विकास द्वारा पशु से मनुष्य बना है। उसने यौनि विकास का क्रम इस प्रकार बतलाया— (१)प्रथम अमीवा-एक घटक् जन्तु हुए (२)फिर आदिममत्स्य। फिर केकड़े वाले मत्स्य (३) फिर सरीसृप मेंढक जलथारी जन्तु (४) फिर स्तन्य जन्तु (५) फिर अण्डज स्तन्य (६) अण्डज अजरायुज (७) फिर जरायुज स्तन्य (८) फिर किंपुरुष बन्दर वनमानस पतली नाक वाले। मनुष्यों में पहिले पूंछ वाले कुक्कुटाकार फिर बिना पूंछ वाले नराकार वन-मानुषों की किसी शाखा (लुप्त कड़ी से जिसका अभी तक पता नही) के गूंगे मनुष्य। फिर अन्त में उन्हीं से बोलने वाले मनुष्य उत्पन्न हुए।

डार्विन ने इस योनि विकास के साथ ही मानसिक विकास (Mental evolution) की भी कल्पना करते हुए प्रकट किया है कि मनुष्य में बिना किसी निमित्त पुरुष के स्वतः क्रमशः ज्ञान की वृद्धि हो जाती है। क्रमशः मानसिक विकास पर निम्न व्यक्तियों ने परीक्षण किये और उनके निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं —

(१) असुरबानापाल – लेयार्ड (Leyard) और लिन्सन (Lynson) दो अन्वेषकों ने नैनवा बेबलन (असीरिया) के पुराने खण्डरों की ईंटों पर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले। पुस्तकों में बानापाल के परीक्षणों का हाल मालूम किया। पुराणों में इसी बानापाल को बानासुर लिखा है, जिसने इस देश पर आक्रमण किया था और श्रीकृष्ण द्वारा पराजित हुआ था।

(२) यूनान का राजा सैमिटीकल (३) द्वितीय फेडिरिक (४) चतुर्थ जेम्स (५) महान् अकबर।

इन राजाओं के आधिपत्य में अनेक विद्वानों द्वारा १०-१०, १२-१२ छोटे-छोटे नवजात बालकों को शीशे के मकान में रखा गया और उनकी परवरिश के लिए धाइयां रक्खी गई। उनको समझा दिया गया कि वे बच्चों को खिलापिलाकर प्रत्येक प्रकार से उनकी रक्षा करें। परन्तु उनको किसी प्रकार की कोई शिक्षा न दें, न उनके सामने कुछ बोलें। उन धाइयों ने ऐसा ही किया। इस प्रकार परवरिश पाकर जब बच्चे बड़े हुए तब जांच करने से मालूम हुआ कि वे सभी गूंगे व बहरे थे। यदि बिना शिक्षा दिये स्वयं किसी में ज्ञान उत्पन्न हो सकता, तो उन बच्चों को बोलना आदि स्वयं आ जाता इनका बहरा-गूंगा रहना साफ तौर से प्रकट करता है कि स्वयंमेव ज्ञान न उत्पन्न होता है न उसकी वृद्धि होती है।

वैज्ञानिक भी अब क्रमशः ज्ञान वृद्धि के मन्तव्य का विरोध करने लगे हैं।

(१) सर आलिवर लाज क्रमशः ज्ञान वृद्धि के सिद्धान्त का विरोध करते हुए ऐसा मानने वालों के प्रश्न करते हैं कि सूक्ष्म कला (Fine Art) फोटोग्राफी आदि का बिना शिक्षा प्राप्त किये किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ? एक दूसरे विद्वान बालफोर ने लाज के इस प्रश्न का समर्थन किया है।

(२) डाक्टरवालेस ने जो विकासवाद के अविष्कारकों में से एक थे, अपने क्रमशः ज्ञान की वृद्धि वाले सिद्धान्त को छोड़कर एक जगह लिखा है कि जो विचार वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं, उनके लेखक उत्तम से उत्तम शिक्षकों और हमारे मिनटनों टेनसनोंवा से न्यून नहीं थे। डाक्टर वालेस के ये शब्द हैं-

We must admit that the mind which conceived and expressed in appropriate language, such ideas as are everywhere apparent in Vedic hymns could not have been in any away inferior to those of the best of our religlous teachers and poets, to our Miltones and Tennysons.

(३) डाक्टर वालेस ने मिश्र मैसोपटेमिया की पुरानी कलाओं और लेखों पर विचार करते हुए उनको भी आजकल की अच्छी से अच्छी कलाओं से कम नहीं ठहराया है। उन्होंने इन और ऐसी ही अन्य बातों पर विचार करते हुए परिणाम यह निकला है कि क्रमशः ज्ञान वृद्धि का कोई प्रमाण नहीं है।

There is therefore no proof of continuouly increasing Intellectual Power.

(४) क- गैलटन महोदय ने एक जगह लिखा है- "यथेन्स वासियों की बुद्धिमत्ता अंग्रेजों से दो डिग्री ऊंची है। अंग्रेजों की बुद्धिमत्ता अफरीकनों से दो डिग्री ऊंची है। अब एक साथ जन्मी हुई तीन जातिओं में यह डिग्री का भेद क्यों है? क्रमश: वृद्धि के सिद्धान्त से तो सब जातियों का स्तर एक सा होना चाहिए था।

ऋगवेद में जिस कोटि का ज्ञान है, विकास सिद्धान्तानुसार तो उसके उस स्टेज तक आने में हजारों वर्ष लगे होंगे। पर उससे पूर्व का निम्नतर स्तर का क्या कोई भी साहित्य उपलब्ध है? अतः इस वाद की मान्यता स्थापित नहीं होती।

(क्रमशः)

ऋग्वेद में अद्धा निपात

डॉ० राकेश शास्त्री, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

'अद्धा' निपात की ऋग्वेद के निश्चयार्थक निपातों में गणना की जा सकती है। प्रयोग की दृष्टि से इसका निश्चयार्थक निपातों में चौदहवां स्थान है। यद्यपि आचार्य सायण ने ऋग्वेद में एक स्थल पर 'अद्धा' को स्पष्ट रूप से सत्य अर्थ वाला प्रदर्शित किया है[1], तथापि उन्होंने ही ऋग्वेद में तीन स्थलों पर इसका 'सत्यमेव' अर्थ किया है।[2] क्योंकि सत्य के साथ-साथ 'एव' निपात का भी सायण भाष्य में उल्लेख किया गया है, इसलिये 'अद्धा' निपात से निश्चय अर्थ को प्रकट करने की सम्भावना अधिक हो जाती है।

इसके अनिरिक्त सर मोनियर विलियम्स भी इस निपान को निश्चयार्थक मानते हैं।[3] ऋग्वेद में जिन स्थलों पर इस निपात का प्रयोग हुआ है, उन स्थलों पर इसका निश्चय अर्थ ही संगत प्रतीत होता है, अतः 'अद्धा' निपात को निश्चयार्थक निपातों की श्रेणी में रखने में कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस निपात का ऋग्वेद में छः बार प्रयोग हुआ है।[4] सभी स्थलों पर यह निपात अन्तोदात्त स्वर से युक्त मिलना है।[5] इस निपात की तीन बार मन्त्र के प्रथम चरण में[6] तथा तीन बार मन्त्र के चतुर्थ चरण[7] में आवृत्ति हुई है।

संहितोत्तर वैदिक संस्कृत साहित्य, ऋग्वैदिक ब्राह्मण एवं आरण्यकों में इस निपात का सर्वथा अभाव है।[8] ऋग्वैदिक उपनिषदों में से वाष्कलोपनिषद् में इसकी चार बार आवृत्ति हुई है।[9]

---

१ सत्यनामैतत्–सायण–भाष्य–८.१९.९।

२ ऋग्वेद–१.५२.१३,८.१०१.११,१०.११७.७।

३ संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी–सर मोनियर विलियम्स–पृष्ठ १९।.

४ ऋग्वेद–१.५२.१३,३.५४.५,८.१९.९, ८.१०१.११, १०.१११.७, १२९.६।

५ ऋग्वेद–संहिता–मैक्समूलर–चौखम्बा प्रकाशन–तृतीय संस्करण।

६ ऋग्वेद–३.५४.५,८.१९.९, १०.१२९.६।

७ वही–१.५२.१३,८.१०१.११,१०.१११.७।

८ वैदिक पदानुक्रम कोश–विश्वबन्धु–१९४५।

९ ३,६,९,१०, वैदिक पदानुक्रमकोश, पृ० १९२।

लौकिक संस्कृत साहित्य में भी 'अद्धा' निपात का प्रयोग मिलता है। विविध कोशों में इस निपात को विभिन्न अर्थों–सचमुच, बिल्कुल, अवश्य, निःसन्देह, यथार्थ, सत्य, प्रत्यक्ष, साक्षात्कार, स्फुट, अवधारण, अतिशय तत्त्व आदि में स्वीकार किया गया है।[1] अतः स्पष्ट है कि 'अद्धा' निपात का उत्तरोत्तर संस्कृत साहित्य में अर्थ एवं प्रयोग की दृष्टि से विस्तार हुआ है।

प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में 'अद्धा' निपात—

आचार्य यास्क ने निरुक्त में इस निपात का उल्लेख नहीं किया है तथा निरुक्त के व्याख्याकारों ने भी इस निपात पर दृष्टिपात नहीं किया है, इसका कारण सम्भवतः इस निपात का ऋग्वेद में विरल प्रयोग ही प्रतीत होता है। मैक्डानल ने इस निपात का मात्र उल्लेख किया है। उनके मत में यह निपात 'धा' प्रत्यय से युक्त है तथा यथार्थ रूप को प्रकट करने वाला निपात है।[2] उनकी सम्मति में–यह निपात क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु परीक्षा करने पर मैक्डानल का यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऋग्वेद में प्रयुक्त छः स्थलों में से केवल तीन स्थलों पर ही यह निपात क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[3]

आचार्य सायण ने इसे 'सत्य' अर्थ वाला प्रतिपादित किया है। यद्यपि तीन स्थलों पर सत्य अर्थ के साथ-साथ उन्होंने 'एव' निपात का भी उल्लेख किया है।[4] इसलिये इसके निश्चयार्थक होने में संदेह नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त वेंकटमाधव भी इस निपात का 'सत्यमेव' अर्थ करते हैं।[5] मुद्गल ने भी एक स्थल पर यही अर्थ किया है।[6] स्वामी दयानन्द इसका 'साक्षात्' अर्थ करते हैं।[7]

वस्तुतः यदि 'अद्धा' निपात को 'सत्य' अर्थ वाला भी मानें तो भी इसे निश्चय अर्थ वाला मानने में सन्देह नहीं है, क्योंकि 'सत्य' पद की उपस्थिति से भी वक्ता के कथन में निश्चयात्मकता की

---

१ (क) अमरकोश-पृ० ५३५. (घ) युगलकोश–पृ० ११. (छ) संस्कृत-हिन्दी-कोश-आप्टे पृ० २३
(ख) वैजयन्ती कोश-पृ० २१५. (ङ) शब्द-कल्पद्रुम-पृ० ३३. (ज) शब्दोस्तोम महानिधि-पृ० १८.
(ग) हलायुध कोश-पृ० ११४. (च) वाचस्पत्यम् - प्रथम भाग-पृ. ११७.।

२ वैदिक व्याकरण–मैक्डानल–अनु० सत्यव्रत शास्त्री–पृ० २८१.।

३ ऋग्वेद–१.५२.१३, १०.१११.७, १२९.५.।

४ वही –१५.१२.१३, ८.१०१.११, १०.१११.७.।

५ वही –८.१०१.११ वेंकटभाष्य।

६ वही १.५२.१३–मुद्गल भाष्य।

७ ऋ० १.५२.१३; ३.५४.५।

प्रतीति होती है। अब विवेचनीय यह है कि 'अद्धा' निपात के प्रयुक्त स्थलों पर निश्चय अर्थ कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है।

'अद्धा' निपात का अर्थ—

ऋग्वेद का प्रथम विचारणीय स्थल प्रथम मण्डल का है, जहां पर इस निपात का 'सत्य' एवं 'नकिः' पदों के मध्य मन्त्र के चतुर्थ चरण में प्रयोग हुआ है—

> त्वं भुवः प्रतिमान पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः।
> विश्वमाप्रा अंतरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर आचार्य सायण ने 'अद्धा' निपात का 'सत्यमेव' अर्थ किया है।[2] मन्त्र में इन्द्र की स्तुति की गयी है।[3] स्कन्दस्वामी ने इस स्थल पर 'अद्धा' एवं 'सत्य' पदों को 'सत्य अर्थ वाला' माना है।[4] वस्तुतः प्रस्तुत स्थल पर 'अद्धा' निपात 'सत्य' पद के साथ प्रयुक्त हुआ है एवं 'अद्धा' निपात भी सत्य का पर्याय है, इसे लगभग सभी भाष्यकार स्वीकार करते हैं,[5] निघण्टु में भी 'अद्धा' को सत्य का पर्याय माना है।[6] इसलिए मन्त्र में वक्ता के कथन में निश्चयात्मकता का भाव सन्निहित है, क्योंकि एक ही शब्द की पुनरुक्ति का तात्पर्य भी अपने कथन पर बल देने से होता है। इसलिए आचार्य सायण ने प्रस्तुत स्थल पर स्पष्ट रूप से इसे निश्चयार्थक माना है।[7] आचार्य मुद्गल भी सायण कृत अर्थ से सहमत है।[8] स्वामी दयानन्द यहां साक्षात् अर्थ करते हैं।[9] उन्होंने मन्त्र की

---

१ ऋग्वेद–१.५२.१३.।

२ हे इन्द्र त्वं अन्तरिक्षं वर्तमानं आकाशं विश्वं सर्वमपि महित्वा महत्वेन सत्यम् आप्राःनिश्चयेन आसमन्तात्पूरयः। अतः त्वावान् त्वत्सदृशः अन्याः कश्चित् नकिः अस्ति नास्तीति…अद्धा सत्यमेव।

३ सायण–वही।

४ सत्यम् अद्धा द्वे अप्येते सत्य नामनी— इत्येवेवमर्थं भूयस्त्वेनापुनरुक्तिः अत्यन्तसत्यमेतत्। स्कन्दस्वामी भाष्य–वही।

५ देखिये–पृ० १९. ६–बट्। श्रत्। सत्रा। अद्धा। इत्था–ऋतमिति षट्सत्यनामानि निघण्टु– ३.१०.।

७ सायणभाष्य–ऋ० १.५२.१३.। ८ यदेतत् तत् अद्धासत्यमेव। मुद्गल वही।

९ (सत्यम्) अव्यभिचारी सुपरीक्षितं वेदचतुष्टयजन्यम् (अद्धा) साक्षात्, स्वामी दयानन्द वे०भा० वहीं।

व्याख्या भिन्न प्रकार से की है, किन्तु मन्त्रार्थ के औचित्य की दृष्टि से सायणकृत अर्थ ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

द्वितीय विचारणीय स्थल तृतीय मण्डल का है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचद्देवाँ अच्छा पथ्या का समेति।
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर 'अद्धा' निपात का मन्त्र के प्रथम चरण के प्रारम्भ में प्रयोग हुआ है। मन्त्र में 'द्यावापृथिवी' की स्तुति की गई है।[2] आचार्य सायण ने प्रस्तुत मन्त्र को पूर्व मन्त्र से सम्बद्ध करते हुए 'अद्धा' निपात का 'सत्य' अर्थ किया है।[3] वेंकटमाधव भी इस स्थल पर सत्य अर्थ ही करते हैं।[4] स्वामी दयानन्द ने यहां भी 'साक्षात्' अर्थ किया है।[5]

वस्तुतः प्रस्तुत स्थल पर 'अद्धा' निपात का सायणकृत अर्थ ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि- 'सत्य को कौन मनुष्य जानता है,[6] अर्थ स्पष्ट एवं सुगत प्रतीत होता है।
अन्तिम विचारणीय स्थल अष्टम मण्डल का है—

सो अद्धा दाश्वध्वरोऽग्ने मर्तः सुभग स प्रशंस्यः।
स धीभिरस्तु सनिता ॥[7]

मन्त्र में अग्नि देवता की स्तुति की गयी है तथा अद्धा निपात का प्रथम चरण में द्वितीय स्थान पर प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत स्थल का अर्थ करते हुए सायण ने 'अद्धा' को सत्य अर्थ में प्रयुक्त माना है।[8] किन्तु यहां पर उसका निश्चय अर्थ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि मन्त्र में यज्ञ करने वाले मनुष्य की फल प्राप्ति का कथन किया गया है।[9] अतः कथन की निश्चयात्मकता असंदिग्ध है। वेंकट-माधव की व्याख्या से भी निश्चय अर्थ की प्रतीति हो रही है।[10]

---

१ ऋग्वेद ३.५४.५.।
२ कः वा अद्धा सत्यभूतं तादृशमर्थं वेद वेत्ति। सा. भा. वही।
३ वही।
४ कः मनुष्यः सत्यं वेत्ति, कः वा इह मनुष्येभ्यः एतत् प्रवोचत्। वे. भा. वही।
५ (कः) (अद्धा) साक्षात् (वेद) जानीयात्। स्वामी दयानन्द भाष्य वही।
६ ऋ०वे०भा० ३.५४.५.।
७ ऋग्वेद— ८.१९.९.।
८ अद्धा। सत्यनामैतत्। सत्यफलो भवतु। सा. भा. वही।
९ हे अग्ने यः मर्तः मनुष्यः दाश्वध्वरः दत्तयज्ञो भवति सः अद्धा। सा० भा० वही।
१० सः सत्यम् दत्तयज्ञः अग्ने ! मर्त्यः सुधनः !, वे. भा. वही।

अतः प्रस्तुत स्थल पर 'अद्धा' निपात को निश्चय अर्थ में प्रयुक्त मानना संगत प्रतीत होता है।

अद्धा निपात का चतुर्थ विचारणीय स्थल अष्टम मण्डल का है—

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर 'अद्धा' निपात मन्त्र के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त हुआ है तथा मन्त्र में सूर्य देवता की स्तुति की गयी है। आचार्य सायण यहां अद्धा का सत्यमेव अर्थ करते हैं।[2] किन्तु उसे यहां पर निश्चय अर्थ में प्रयुक्त मानना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि मन्त्र में सत्यार्थक 'बट्' निपात की दो बार आवृत्ति हुई है।[3] सूर्य की महिमा का वर्णन है।[4] इसलिए स्तोता ने कथन में निश्चयात्मकता के प्रतिपादन हेतु बार-बार सत्यार्थक— बट् और अद्धा का प्रयोग किया है। आचार्य सायण की व्याख्या से भी इस कथ्य की पुष्टि होती है।[5] वेंकटमाधव 'अद्धा' के अर्थ में निश्चयार्थक एव निपात का ही प्रयोग करते हैं।[6] इसलिए उनकी सम्मति में भी यहां इसे निश्चय अर्थ में प्रयुक्त मानना समीचीन प्रतीत होता है, यद्यपि उसके सत्य अर्थ को भी अमान्य नहीं कहा जा सकता।

दशम मण्डल में इस प्रकार के विचारणीय स्थलों की संख्या दो है, प्रथम स्थल निम्न है—

सचंत यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो राम विंदन् ।
आ यन्नक्षत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो नकिरद्धा नु वेद ॥[7]

प्रस्तुत मन्त्र में 'अद्धा' निपात का चतुर्थ चरण में 'नकिः' पद के पश्चात् प्रयोग हुआ है। मन्त्र में सूर्य देवता की स्तुति की गयी है। आचार्य सायण ने इस स्थल पर भी 'अद्धा' निपात का 'सत्यमेव' अर्थ किया है।[8] सायण की व्याख्या के आधार पर 'अद्धा' निपात के निश्चय अर्थ को पूर्व मन्त्र के समान अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वेंकटमाधव ने यहां 'अद्धा' का कोई अर्थ

१ ऋग्वेद— ८.१०१.११.
२ हे देव द्योतनादि गुणयुक्त सूर्य त्वं महान् वीर्येणाप्यधिकः असि भवसि। अद्धा सत्यमेव। अत्र न संशय इत्यर्थः। बट्सत्रा अद्धा इति सत्यनामसु पाठात्, सायणभाष्य, वही।
३ बट् महान् असि सूर्य बट् आदित्य महान् असि। ऋग्वेद, ८.१०१.११।
४ वही. ५— अद्धा सत्यमेव। अत्र न संशय इत्यर्थः। सा. भा. वही।
६ सत्यमेव देव। महान् भवसि। वें. भा. वही।
७ ऋग्वेद १०.१११.७.।
८ सर्वतः गच्छतोऽस्य रश्मीन् नकिः न कश्चित् नु वेद जानाति। एतत् अद्धा सत्यमेव। सा. भा. वही।

नहीं किया है। अन्तिम विचारणीय स्थल निम्न है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुतः इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ऋ. १०.१२९.६.

यहां पर 'अद्धा' निपात मन्त्र के प्रथम चरण में द्वितीय स्थान पर प्रश्नवाचक कः पद के पश्चात् प्रयुक्त हुआ है। आचार्य सायण ने यहां पर उसका 'पारमार्थ्येण' अर्थ किया है।[1] जो कि समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इन्हीं पदों के साथ तृतीय मण्डल में भी मन्त्र के प्रथम चरण में ही 'अद्धा' निपात का प्रयोग हुआ है।[2] जिसे विवेचन करने के उपरान्त सत्यार्थक सिद्ध कियाजा चुका है।[3] वहां भी सायणकृत अर्थ का ही औचित्य स्वीकार किया गया है। वेंकटमाधव यहां भी सत्य अर्थ करते हैं।[4] अतः प्रस्तुत स्थल पर सायणकृत अर्थ ही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

'अद्धा' निपात के उपर्युक्त स्थलों के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में 'अद्धा' निपात का निश्चय अर्थ उपलब्ध होता है। यद्यपि मूलतः उसका सत्य अर्थ ही है, जो कि निघण्टु में भी मिलता है,[5] तथापि वह निश्चयात्मकता का भाव लिए हुए हैं।[6] ऋग्वेद में यह निपात तीन स्थलों[7] पर केवल सत्य अर्थ के प्रतिपादन के लिए तथा शेष तीन स्थलों पर[8] सत्य अर्थ के साथ-साथ निश्चयात्मकता के अर्थ प्रतिपादन हेतु प्रयुक्त हुआ है।

□

---

१ कः पुरुषः अद्धा पारमार्थ्येन वेद जानाति। कः वा इह अस्मिन् लोके प्रवोचत् प्रब्रूयात्। सा.भा. १०१ २९.६

२ ऋग्वेद ३.५४.५.।

३ देखिये पृ०–२१।

४ कः सत्यम् इह जानाति। वे. मा. भा. १०.१२९.६।

५ बट्, श्रत्, सत्रा, अद्धा, इत्था……ऋतमिति षट्। सत्यनामानि निघण्टु– ३.१०.।

६ ऋग्वेद– १.५२.१३, ८.१०१.११, १०.१११.७.।

७ वही—३.५४.५., ८.१९.९., १०.१२९.६.।

८ वही—१.५२.१३., ८.१०१.११., १०.१११.।

स्वामी श्रद्धानन्द जी की लेखनी से–

माता की लाज पुत्रियों के हाथ में–

प्रस्तुतकर्ता—जगदीश प्रसाद विद्यालङ्कार

भारत माता का विलाप सन्तान के लिये असहाय हो गया, इसी लिये सन्तान माता की रक्षा और पुनरुत्थान के लिये हाथ पैर रही है। अब तक पुरुष ही यत्न करते रहे थे, कुछ दिनों से स्त्रियों ने मातृ सेवा का व्रत लेना शुरु कर दिया है।

मन कितना ही उठने वाला विशाल क्यों न हो बिना दृढ़ बलवान शरीर और आत्मा के वह विवश ही रहता है। भारतीयों में मानसिक भाव बड़े व्यापक हैं, परन्तु आत्मा और शरीर की निर्बलता के कारण उनके संकल्प केवल संकल्प मात्र ही रहते हैं। निर्बल, तेजहीन शरीर के अन्दर तेजस्वी आत्मा का निवास भी दुस्तर है।

कहा जायेगा कि सुशिक्षित पुरुषों ने शारीरिक उन्नति और दृढ़ता की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया है। परन्तु सन्तान वही कुछ बनती है जो उसे माता पिता (विशेषतः माता) बना दें। भारत को वीर सिंह सन्तान चाहिये, वेद के आदेशानुसार—

अस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। राष्ट्र में वीर सन्तान उत्पन्न होनी चाहिये। वह वीर सन्तान कैसे उत्पन्न होगी?

आजकल की विदेशी शिक्षा पद्धति ने जहां भारतीय बालकों के शरीर निस्तेज कर दिये हैं वहां आर्य बालिकाओं को भी अत्यन्त निर्बल बना दिया है। आज से ४० वर्ष पहिले की आर्य देवियों यद्यपि सर्वभाषाओं के अक्षरों से शून्य थी, तथापि शारीरिकबल से वंचित न थी, उनमें इतनी शक्ति अवश्य थी कि कम से कम स्वस्थ और दृढांग सन्तान उत्पन्न करें। विदेशी शिक्षा ने भार की कुछ पुत्रियों को पुस्तक पढ़ने और अक्षर लिखने के योग्य तो बना दिया परन्तु साथ ही उन्हें दृढांग वीर सन्तान उत्पन्न करने योग्य नहीं छोड़ा। ऊंची एड़ी के बन्द और रंग बिरंगी रेशमी साड़ियां पहिन कर हमारी पुत्रियां और बहिने तितलियां बना दी गई है, तितलियों के गर्भ से सिंह कैसे पैदा हो सकते हैं।

६०० वर्ष हुए मेवाड़ की गद्दी पर राना अजयसिंह बैठे, उनके पीछे उनके भाई अमरसिंह के पुत्र को गद्दी मिलनी थी। उनका पुत्र प्रसिद्ध राना हमीर हुआ, जिसने ६४ वर्षों में मेवाड़ की काया पलट दी थी। उसने मेवाड़ के खोये हुए सहस्रों दुर्ग ही मुसलमानों से न लौटा लिये अपितु बादशाह महमूद खिलजी को भी तीन महीने तक चित्तौड़ के कारागर में रक्खा और उसने अजमेर, रणथम्भौर, नागौर, सुई शिवपुर के इलाके ही न छुड़वा लिये अपितु ५० लाख रुपया हर्जाना और १०० हाथी कर में लिये। वह हमीर किस माता का पुत्र था ? सुनो ! —

एक दिन अमरसिंह जंगली सुअर के शिकार के लिए जा रहा था। सुअर एक ज्वार के खेत में घुस गया, अमरसिंह के साथियों को खेत में जाते देख एक राजपूतनी लड़की ने जो मचान पर बैठी थी, उनको खेत में घुसने से रोक कर कहा—

"तुम सब हट जाओ मैं शिकार को खेत से निकाल देती हूँ।"

ज्वार के एक गज लम्बे लट्टे को उखाड़ कर उससे सुअर को मार उनके सामने खींच लाई और विदा हो गई। राजपूत बहादुर उस शक्ति को देख आश्चर्य में आ गये। उन सबने पास की नदी के किनारे बैठ शिकार भूना और जलसा मनाने लगे। उसी समय किसी का चलाया हुआ एक मिट्टी का गोला अमरसिंह के घोड़े को लगा और उसकी हड्डी तोड़ दी। देखने पर मालूम हुआ कि मचान पर से उसी कुमारी राजपूतनी ने जानवरों को हांकने के लिये यह गोला चलाया था। उससे हानि देखकर वह कुमारी उतरी और कुमार से क्षमा प्रार्थना करके चली गई। जब सब राजपूत घर को लौटे तो रास्ते में देखा कि वही कुमारी सिर पर दूध का घड़ा रखे, दोनों हाथ से दो मस्त भैंसे पकड़े लिये जा रही है। हँसी में उसके सिर से दूध गिराने के लिये एक सवार आगे बढ़ा। कुमारी घबराई नहीं एक भैंसे को घोड़े की टांग में अड़ा कर घोड़ा और सवार दोनों को गिरा दिया। अमरसिंह ने कुमारी के पिता के पास पहुँच कर उससे विवाह करने का प्रस्ताव किया। वह चन्दावत राजपूत था। निर्धन होते हुए भी अमरसिंह के बराबर बेपरवाही से बैठ गया और प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। उसकी धर्मपत्नी ने जब समझाया, तब अमरसिंह का चंदावत राजपूतों में से विवाह हुआ। उन दोनों की सन्तान राणा हम्मीर था।

कैलवे के फतहसिंह को माता और धर्मपत्नी ने चित्तौड़गढ़ से निकल कर मुगल सेना में हलचल डाल दी थी और सैकड़ों को मार कर देश की स्वतन्त्रता पर अपनी जान कुर्बानी कर दी।

वह पुस्तक की विद्या व्यर्थ है, जो शरीर और आत्मा को निर्बल कर दे। झांसी की रानी की कहानी भी कोई बहुत पुरानी नहीं है। ३२ वर्ष पहिले की एक घटना तो मेरे सामने ही घटित हुई

थी। एक नव विवाहित जाट लड़की यात्रा में कुटुम्ब के साथ सोई हुई थी। रात को चोर ने चांदी की चूड़ी उतारने लिए हाथ बढ़ाया, १७ वर्ष की जाट लड़की ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये। श्वसुर और अन्य बड़े-बूढ़ों से लजाते बोल न सकती थी। ३ घन्टे तक उसी तरह पकड़े रक्खा। जब चोर ने हाथ छुड़ाना चाहा तो उसकी कलाइयां इतनी दबाई कि चोर चींख उठा। तब पुरुष जागे और चोर पकड़ा गया।

ऐसी दृढांग देवियां यदि सत्य विद्या के भूषण से आभूषित कर दी जाय, तब वह सन्तान उत्पन्न हो सकती है, जिसकी 'वेद' ही राष्ट्र के लिए आवश्यकता बतलाता है। अब तक कन्या पाठशालाओं और महाविद्यालयों के संचालकों के पास वह संदेश भेजता रहा हूं और अब जब तक कि कन्या गुरुकुल खोलने का साहस किया गया है, वही संदेश उस संस्था के संचालकों के पास पहुंचाना चाहता हूं।



बाल शिक्षा का वैदिक मन्त्र

—बलभद्र कुमार हूजा

भारत के प्राचीन ऋषियों ने जीवन के सर्वोत्कर्ष स्वरुप की कल्पना में अनेक संस्कारों के रूप में एक ऐसी व्यवस्था का अविष्कार किया जो पूर्णतः वैज्ञानिक और व्यवहारिक है।

संस्कारों का सिलसिला :— जिस प्रकार लोक में विशिष्ट अतिथि की प्रतीक्षा हेतु उसके रहने एवं आराम आदि के लिए पूर्व ही अच्छी व्यवस्था कर ली जाती है। इसी प्रकार भारतीय ऋषियों के अनुसार संसार के माता-पिताओं को भी यह उचित है कि वे सन्तान के रूप में आने वाले नये मेहमान की एक स्पष्ट परिकल्पना करें। उसके शारीरिक एवं मानसिक निर्माण की तैयारी करें।

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् जीव जिस सूक्ष्म शरीर को लेकर चलता है वह पिता के वीर्य में विकास पाता है। उसके पश्चात् माता के गर्भाशय में प्रवेश करता है। पिता के शरीर में वीर्य कोष ही पुत्र का गर्भाशय है। यही आगुन्तक जीव का शरीर है। इसलिए वैदिक ऋषियों ने यह धारणा रखी कि जिस प्रकार का भोजन पिता करेगा, उसी प्रकार का शरीर तैयार होगा, यह तो रहा भौतिक तथ्य शरीर पर पिता के मन का भी आभास पड़ेगा। उसमें पिता के प्रत्येक अंगों से किये हुए कार्यों की प्रतिच्छाया रहेगी। अतः पिता को सोच लेना चाहिये कि जिस प्रकार के बालक की वह इच्छा करता है, उसी प्रकार का आचरण होना चाहिए। बच्चे के निर्माण में माता-पिता का दायित्व उसके उत्पन्न होने से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। वैदिक ऋषियों की यह बात सुनने में भले ही विचित्र लगे कि बालक की शिक्षा बालक के जन्म से पूर्व ही शुरू हो जाती है। लेकिन यह अकाट्य सत्य है। इसलिए सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है—

अंगादंगात्सम्भवसि, हृदयादभिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि, त्वं जीव शरदः शतम् ॥

अर्थात् अंग-अंग से बालक उत्पन्न होता है, प्रत्येक अंग की प्रतिच्छाया शरीर पर पड़ती है। हृदय की सभी भावनायें स्पष्ट रुप से वीर्य के उस कण में होती हैं जिसको जीव ने अपना शरीर बनाया हुआ है। पिता अपनी अभिलषित एवं सिञ्चित धरोहर निर्माण के आगे के उत्तरदायित्व को गर्भ धारण हेतु माता को सौंप देता है। अब माता निर्माता भवति, का सार्वभौमिक सिद्धान्त

क्रियाशील हो जाता है। बालक के सर्वतोमुखी विकास हेतु प्राचीन ऋषियों ने माताओं को यह सीख दी कि वे अपनी दिनचर्या को इस प्रकार बनायें कि पूर्व जन्म के आये हुए अच्छे प्रभावों का विकास हो और बुरे प्रभाव शनै शनै तिरोभूत हो जायें। इसलिये वेद में कहा है—

गर्भं धेहि सिनीवाली, गर्भं धेहि सरस्वती ।

अर्थात् माता को बच्चे को भोजन पहुंचाने वाली अर्थात् अन्नवाली एवं सरस्वती होना चाहिए।

बच्चे की सतत् शिक्षा के इस वैदिक दृष्टिकोण का ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में अत्यन्त स्पष्ट तरीके से चित्रण किया है। माता-पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, रुक्ष, बुद्धि नाशक पदार्थों को छोड के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें कि जिससे रजस्, वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हो।

(सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास-२) वेदों में बालक को शिक्षा देने में माता को साक्षात् सरस्वती कहा गया है तथा मां को सत्य आदि गुणों की प्रेरक, बुद्धियों को चेताने वाली शक्ति के रूप में प्रतिबिम्बित किया है। मष्तिष्क शक्तियां बच्चे के मष्तिष्क को बनाती है। मन और मष्तिष्क का परस्पर सम्बन्ध है। एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए बच्चे को शिक्षा देने का सिलसिला माता के संस्कारों के आधार पर जन्म से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में ऋषि दयानंद ने संस्कार विधि में माता के विचारों को शुद्ध करने हेतु गर्भाधान संस्कार का विधान किया।

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास विभिन्न चरणों में आयु पर्यन्त होता रहता है। अतः इस हेतु गर्भ से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य के शरीर और आत्मा पर उत्तम संस्कार डालना और शुभ संकल्प लेना व्यक्ति और समाज के हित में आवश्यक हो जाता है। मनुष्य को सही रूप में शिक्षित करने का यह दृष्टिकोण सर्वाङ्ग जीवन से सम्बन्ध रखता है। ऋषि दयानन्द बच्चे की शिक्षा में माता-पिता के महान् उत्तरदायित्व का बोध कराते हुए कहते हैं "वह सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचाता है, उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है उतना कोई नहीं। इसीलिये (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्तम् धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।" धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या नहीं तब तक सुशीलता का उपदेश करें।"

पुंसवन संस्कार—भारतीय ऋषियों ने गर्भावस्था के काल में ही बच्चे को सुसंस्कृत करने हेतु सीमन्तोनयन दो और संस्कारों का विधान किया। गर्भ की स्थिति का सम्यग् ज्ञान हो जाने पर आगन्तुक-शिशु की भव्य कल्पना मस्तिस्क में संजोये माता-पिता इस संस्कार के माध्यम से यह प्रतिज्ञा करते हैं, कि वे इस संसार में अपने से श्रेष्ठ संतान का निर्माण करने में प्राण प्रण से चेष्टा करेंगे। पुंसवन संस्कार के एक मन्त्र में स्त्री को यह सन्देश दिया गया है कि वह आगन्तुक बालक का पृष्टपोषण करने वाली है। बालक के व्यक्तित्व के विकास में गर्भवत् स्थिति में माँ की भूमिका बेजोड़ है। शिक्षा विनियम के इस बेजोड़ स्वरूप को हमने आज भुला दिया है। इसलिये वेद के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि "गर्भ महान् वस्तु है, उसको धारण करने वाला महान् है और रक्षण करने वाला भी महान् है।

सीमन्तोनयन संस्कार—यह संस्कार गर्भ के चौथे मास के बाद से लेकर सातवें मास के अन्त तक बच्चे की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिये किया जाता है। गर्भस्थ अवस्था में किये जाने वाले ये संस्कार माता पिता को बराबर अहसास दिलाते रहते हैं कि उनके उत्कृष्ट जीवन पर ही उनकी संतान के सुन्दर भविष्य की आधारशिला स्थापित है।

सतत् शिक्षा का स्वरूप—यह अकाट्य सत्य है कि गर्भावस्था में माता के सोचने विचारने का उसकी प्रवृत्तियों और भावनाओं का तथा संस्कारों का, मां के संकल्प-विकल्पों का उनकी प्रत्येक क्रियाओं का सूक्ष्म प्रभाव अवश्य ही संतान पर पड़ता है। महाभारत के अनुसार अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदन मातृगर्भ में ही सीखा था। कहते हैं कि बादशाह हुमायूं की बेगम एक दिन अपने तलवे पर सुरमे से एक फूल का चित्र बना रही थी, हुमाँयूँ ने पूछा ऐसा क्यों कर रही हो ? उसने कहा मेरी इच्छा है कि मेरे पुत्र के तलवे पर भी ऐसा ही फूल हो। यह आश्चर्य से देखा गया कि जन्म से ही अकबर के तलवे पर वैसा ही फूल था। शिवाजी के इतने प्रतापी होने का कारण भी यही बताया जाता है, उनकी माता जीजाबाई उसी प्रकार के विचारों से सदा भरी रहती थीं। नैपोलियन की अतुल शूरवीरता और अदम्य साहस का रहस्य भी उनकी माता के वीरोचित संकल्पों में निहित है। रानी मदालसा की गाथा भी सर्वविदित है, जिसने संकल्प, विचार एवं रहन-सहन के आधार पर भविष्यवाणी की थी कि वह अपने एक पुत्र को चक्रवर्ती सम्राट बनायेगी तथा दूसरे पुत्र को महान् वीतराग सन्यासी तथा अपने इस संकल्प में वह सफल रही।

ऋषि दयानन्द ने संसार के शिक्षाविदों के सामने बालक को शिक्षित करने की वैदिक व्यवस्था का स्वरूप सम्मुख रखा। सत्यार्थप्रकाश में शतपथ ब्राह्मण के वचन का हवाला देते हुए वे लिखते हैं। "मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषों वेद।" वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है(सत्यार्थप्रकाश समुल्लास-२)

भारतीय ऋषियों के दृष्टिकोण से बालक को शिक्षित किया जाना तथा संस्कृत किया जाना ही–वास्तविक शिक्षा है तथा इस प्रकार संस्कार आरोपण का महान् उत्तरदायित्व अन्ततः परिवार का ही होता है। इसलिये परिवार बालक की प्राथमिक पाठशाला है। इसी दृष्टिकोण की पुनर्स्थापना आज से एक शताब्दी पूर्व ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों सत्यार्थ प्रकाश एवं संस्कार विधि के द्वारा की। उन्होंने कहा कि जीव को संस्कृत किये जाने का वह सिलसिला जन्म से प्रारम्भ न होकर उससे पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। जिससे जन्मान्तर के पश्चात् अनुकूल जलवायु एवं वातावरण के आधार पर श्रेष्ठ संस्कारों का पल्लवन बालक में हो सकता है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध—माता पिता के पश्चात् बालक को संस्कारित या दूसरे शब्दों में उसे शिक्षित करने में आचार्य की महान् भूमिका है। वेद के एक मन्त्र के अनुसार—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। अथर्व० १.५.३.

अर्थात् जब आचार्य ब्रह्मचारी को शिष्य मानकर अपने पास रखता है। तब वह उसको अपने अन्दर कर लेता है।यहां अन्दर करने का तात्पर्य केवल अपने परिवार में अथवा कुल में सम्मिलित करना ही नहीं वरन् उस छात्र को अपने हृदय में रखना है, हृदय में अथवा गर्भ में रखने का यही अभिप्राय है। उससे छिपाकर कुछ नहीं रखा जाता है। गुरु सब कुछ अपनी योग्यता को उसमें सम्मिलित कर देता है। भारतीय दृष्टिकोण से गुरु शिष्य का यह गम्भीर सम्बन्ध भी माता एवं पुत्र की तरह अंतरङ्ग था यह संस्कार, संस्कारों के आरोपण से गर्भाधान के समय से प्रारम्भ होता है। माता-पिता के संस्कारों से पोषित बच्चा उपनयन संस्कार के माध्यम से आचार्य को निर्माण हेतु प्रस्तुत कर दिया जाता है।

□

गुरुकुल समाचार–

दिनांक १५ जुलाई ८३ को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की वित्त समिति की बैठक दिल्ली में सम्पन्न हुई, तथा १६ जुलाई को विश्वविद्यालय की शिष्ट-परिषद् की बैठक कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई।

१८ जुलाई ८३ को दो माह के ग्रीष्मावकाश के उपरान्त विश्वविद्यालय का नया सत्र प्रारम्भ हुआ। इस वर्ष के नये सत्र के वन-महोत्सव का प्रारम्भ कांगड़ी-ग्राम से शुरु हुआ। इस अवसर पर २३ जुलाई को एक समारोह का आयोजन कांगड़ी-ग्राम में किया गया। इस समारोह की अध्यक्षता कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी ने की। समारोह के मुख्य-अतिथि श्री एल० आर० शाह, परामर्शदाता (अवकाश प्राप्त) एन०एस०एस, केन्द्रीय सरकार थे। समारोह के संयोजक डॉ० काश्मीर सिंह थे। प्रमुख वक्ताओं में डॉ० विजयशङ्कर, अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, डॉ० बी०डी० जोशी, अध्यक्ष, जीव विज्ञान विभाग, मैनेजर न्यू बैंक ऑफ इन्डिया, मैनेजर एस०बी०आई० तथा प्रसार प्रशिक्षण केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी के प्राचार्य थे।

उसी दिन सन्ध्या को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में "चिपको-आन्दोलन" के जन्मदाता श्री सुन्दरलाल बहुगुणा पधारे। उन्होंने पर्यावरण को दूषित होने से बचाने पर बल दिया तथा इसे सुन्दर बनाने से सम्बन्धित अनेक स्लाइड्स का प्रदर्शन किया।

२५ जुलाई ८३ को वन-महोत्सव का आयोजन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के परिसर में किया गया। इस समारोह की अध्यक्षता कुलपति श्री जी०बी०के० हूजा ने की। समारोह के मुख्य-अथिति श्री शिवनाथ सिंह कुशवाहा, मन्त्री उत्तर-प्रदेश सरकार थे। इस अवसर पर बी०के० गोस्वामी आयुक्त, मेरठ मण्डल और जिलाधीश, सहारनपुर भी उपस्थित थे। मुख्य वक्ता श्री सुन्दरलाल बहुगुणा थे। उन्होंने वनों की उपयोगिता के सम्बन्ध में सारगर्भित व्याख्यान दिया। श्री शिवनाथ सिंह कुशवाह, मन्त्री श्री जी०बी०के० हूजा, कुलपति, श्री रामप्रसाद वेदालंकार, उपकुलपति तथा डॉ० विजयशङ्कर ने वृक्षों की महत्ता पर अपने व्याख्यान दिये। इस समारोह का संयोजन डॉ० जयदेव वेदालङ्कार ने किया।

अन्त में श्री हूजा के अनुरोध पर श्री कुशवाह एवं उपस्थित अधिकारियों ने वृक्षारोपण का कार्य सम्पन्न किया।

□

गुरुकुल-पत्रिका के नियम

१ लेख स्वच्छ, प्रामाणिक, स्पष्ट और प्रतिपादन की दृष्टि से परिपूर्ण होना चाहिए।

२ लेख–सम्पदा संस्कृत अथवा हिन्दी–भाषा में लिखी जाय।

३ रचना गुरुकुलीयता के अनुरूप हो।

४ वैदिक साहित्य, दर्शन साहित्य आदि किसी भी विषय में गवेषणात्मक, तथ्यात्मक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लेख होने चाहियें।

५ संस्कृत अथवा हिन्दी में अनुरूप श्लोक, कविता, व्यंग्य अथवा चमत्कारिक प्रसंग हो सकते हैं।

६ भारतीय संस्कृति पर विशेष ध्यान दिया जाए।

७ विश्व की अन्य प्रतिष्ठित रचनायें एवं उनके अनुवाद भी स्वीकृत हो सकते हैं।

८ विवादास्पद मौलिकता रहित लेख न भेजें।

९ गुरुकुल-पत्रिका मासिक है। इसमें अपने विचार, परामर्श दिये जा सकते हैं।

१० पत्रिका का वार्षिक मूल्य १२ रुपये हैं। व्यवसाय-प्रबन्धक के नाम धनादेश भेजा जाए।

११ किसी भी लेख, कविता आदि के प्रकाशन, संशोधन, परिवर्तन आदि में सम्पादक का निर्णय हो सर्वोपरि है। बिना डाक-व्यय प्राप्त किये अप्रकाशित लेख, कविता आदि लौटाये न जा सकेंगे।

सम्पादक

गुरुकुल–पत्रिका

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

जिला–सहारनपुर, उत्तर प्रदेश

फार्म ४
(नियम ८ देखिये)

१—प्रकाशन स्थान	...	**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालम, हरिद्वार**
२—प्रकाशन अवधि	...	**मासिक**
३—मुद्रक का नाम	...	**डॉ० जबरसिंह सेंगर (कुलसचिव)**
क्या भारत का नागरिक है ?	...	**भारतीय**
(यदि विदेशी हो तो मूल देश)		
पता—		
४—प्रकाशक का नाम	...	**डॉ० जबरसिंह सेंगर (कुलसचिव)**
क्या भारत का नागरिक है ?	...	**भारतीय**
(यदि विदेशी है तो मूल देश)		
पता—		
५—सम्पादक का नाम	...	**रामप्रसाद वेदालङ्कार, आचार्य एवं उपकुलपति**
क्या भारत का नागरिक है ?	...	**भारतीय**
यदि विदेशी है तो मूल देश)		
पता—	...	**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**
६—उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा समस्त पूंजी के १% से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	...	**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

मैं डॉ० जबरसिंह सेंगर एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

प्रकाशक के हस्ताक्षर

दिनाङ्क :

डा० जबरसिंह सेंगर

(कुलसचिव)